जनसत्ता

उम्मीदें और चुनौतियां

आम चुनाव से ठीक पहले कांग्रेस ने अपना शायद आखिरी और सबसे बड़ा पत्ता खोल दिया है। पार्टी अध्यक्ष राहुल गांधी ने अपनी बहन प्रियंका गांधी को बड़ी जिम्मेदारी सौंपते हुए कांग्रेस महासचिव बनाया है। फिलहाल प्रियंका पूर्वी उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की जिम्मेदारी संभालेंगी। काफी समय से पार्टी में इस बात की जरूरत महसूस की जा रही थी कि कांग्रेस को फिर से मजबूत बनाने में प्रियंका बड़ी भूमिका निभा सकती हैं, इसलिए उन्हें सक्रिय राजनीति में आना चाहिए। हालांकि अभी तक वे सोनिया गांधी और राहुल गांधी के संसदीय क्षेत्र- रायबरेली और अमेठी तक सीमित थीं। कांग्रेस, खासतौर से गांधी परिवार के इन दोनों पुराने गढ़ों में राहुल और सोनिया गांधी का सारा काम एक तरह से प्रियंका ही देखती रही हैं। चुनावों से पहले प्रचार, रोड शो हों या फिर चुनाव बाद की जिम्मेदारियां, प्रियंका की सभी में महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती आई है। पार्टी के भीतर वरिष्ठ नेताओं और कार्यकर्ताओं के बीच भी प्रियंका की स्वीकार्यता है और लंबे समय से पार्टीजन उनसे सक्रिय राजनीति में उतरने का आग्रह भी करते रहे थे। लेकिन अब अटकलों का दौर खत्म हो चुका है और प्रियंका सक्रिय राजनीति में आ चुकी हैं।

हालांकि उत्तर प्रदेश में कांग्रेस का अब नामोनिशान लगभग नहीं बचा है। पिछले तीन दशकों से भी ज्यादा समय से कांग्रेस प्रदेश की सत्ता से बाहर है। प्रदेश में पार्टी की हालत इतनी कमजोर है कि वह बरसों से निर्णायक स्थिति में तो दूर, अपना अस्तित्व बचाने के लिए भी जूझ रही है। एक समय था जब लंबे समय तक उत्तर प्रदेश में कांग्रेस का एकछत्र राज हुआ करता था। लेकिन सपा, बसपा और भाजपा प्रदेश में जिस मजबूती के साथ उभरती और सरकार बनाती रहीं, उससे कांग्रेस के आधार को भारी नुकसान पहुंचा और पार्टी एक तरह से प्रदेश से साफ-सी हो गई। राष्ट्रीय स्तर पर देखें तो 2014 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस अपनी सबसे खराब हालत में पहुंच गई थी। इसलिए माना जा रहा है कि अब प्रियंका गांधी का ही करिश्मा काम करेगा और प्रदेश या राष्ट्रीय स्तर पर पार्टी में वही जान फूंक सकती हैं। जनता में प्रियंका गांधी लोकप्रिय भी काफी हैं, लोग उनमें उनकी दादी इंदिरा गांधी की छवि देखते हैं। इसलिए उम्मीद बंधती है कि वे मतदाताओं को कांग्रेस के पक्ष में लाने और कांग्रेस कार्यकर्ताओं में नया जोश पैदा करने में कामयाब होंगी।

प्रियंका गांधी के सक्रिय राजनीति में उतरने के बाद निश्चित है कि कांग्रेस पार्टी और जनता को उनसे बड़ी उम्मीदें हैं। ऐसे में प्रियंका के लिए जनता की उम्मीदों पर खरा उतरना बड़ी चुनौती होगी। पूर्वी उत्तर प्रदेश में कांग्रेस की स्थिति सबसे ज्यादा खराब है। प्रयागराज, प्रतापगढ़, वाराणसी, मिर्जापुर सहित कई जिलों में एक वक्त में कांग्रेस का खासा दबदबा था। लेकिन आज कांग्रेस के लिए यहां कुछ नहीं बचा। इसके अलावा, हाल में सपा-बसपा ने जो महागठबंधन किया है, उसमें कांग्रेस को शामिल नहीं किया गया। ऐसे में प्रदेश में कांग्रेस को अपना जो भी दमखम दिखाना है, वह अकेले ही दिखाना है। हाल तक माना जा रहा था कि देश में कांग्रेस एक तरह से खत्म हो चुकी है, लेकिन पिछले महीने तीन राज्यों- राजस्थान, मध्यप्रदेश और छत्तीसगढ़ में कांग्रेस की जीत ने इस धारणा को बदल दिया। इन राज्यों में कांग्रेस की जीत और सरकारें बनने से देशभर में संदेश गया है कि कांग्रेस एक बार फिर ताकत के साथ केंद्र की सत्ता में वापसी कर सकती है। ऐसे में देखना यह है कि प्रियंका का सक्रिय राजनीति में उतरना कांग्रेस के लिए कितना कारगर साबित होता है!

पारदर्शिता की खातिर

चुनावों में ऑनलाइन प्रचार अभियानों की बढ़ती उपयोगिता के मद्देनजर राजनीतिक दलों ने बड़े पैमाने पर इसका सहारा लेना शुरू किया है। लेकिन उसमें अगर कोई विज्ञापन विवाद के घेरे में आता है या उसमें दर्ज तथ्य गुमराह करने वाले पाए जाते हैं तो उसे जारी करने वालों को कठघरे में खड़ा करना या उनसे जवाब-तलब करना कई बार मुश्किल होता है। इसकी मुख्य वजह ऐसे विज्ञापनों की प्रस्तुति में पारदर्शिता की कमी है। अब 'गूगल' ने इस बारे में लोगों को यह भरोसा दिलाया है कि उसके मंच पर अगर भारत से संबंधित किसी राजनीतिक विज्ञापन का प्रसार होता है तो वह उससे जुड़ी सभी सूचनाएं सार्वजनिक करेगी। यानी न केवल ऐसे चुनावी विज्ञापन खरीदने वाले का नाम, पते सहित उससे संबंधित सभी ब्योरे होंगे, बल्कि इस बात की भी पूरी जानकारी होगी कि ऐसे विज्ञापनों पर कितना खर्च किया जा रहा है। अब किसी भी समूह या व्यक्ति को अपना विज्ञापन प्रकाशित या प्रसारित कराने के लिए चुनाव आयोग या फिर किसी अधिकृत व्यक्ति की ओर से जारी प्रमाण-पत्र देना होगा। गूगल विज्ञापन को अपने मंच पर जारी करने से पहले विज्ञापन देने वाले की पहचान की जांच करेगी। कंपनी अब भारत पर केंद्रित एक 'राजनीतिक विज्ञापन पारदर्शिता रिपोर्ट' और एक सार्वजनिक ऑनलाइन राजनीतिक विज्ञापन लाइब्रेरी भी प्रस्तुत करेगी, जिसे आम लोग भी देख सकेंगे।

दरअसल, पिछले कुछ सालों के दौरान इंटरनेट प्रौद्योगिकी की पहुंच के विस्तार के साथ-साथ इसके इस्तेमाल के आयाम में भी भारी बदलाव आया है। खासतौर पर जब से स्मार्टफोन या आधुनिक तकनीकी से लैस मोबाइल का बाजार मजबूत हुआ है, अब भारत जैसे देशों की ज्यादातर आबादी के हाथों में इंटरनेट की सुविधा हर वक्त मौजूद रहती है। इसी क्रम में सोशल मीडिया का लोगों के बीच विस्तार हुआ और एक बड़ी तादाद में इंटरनेट उपभोक्ता गूगल, वाट्सऐप, फेसबुक, ट्विटर जैसे मंचों पर नियमित रूप से काफी वक्त देने लगे। जाहिर है, इस तरह सोशल मीडिया के दायरे में आने वाली एक बड़ी आबादी पर राजनीतिक दलों की भी नजर गई और वे उसे अपने प्रभाव में लेने के लिए विज्ञापन सहित कई तरीके आजमाने लगे। लेकिन इसकी बढ़ती रफ्तार के दौर में अनेक ऐसे विज्ञापन भी जारी होने लगे, जिनमें विश्वसनीयता और पारदर्शिता की घोर कमी थी और उनके प्रसारित होने के बाद काफी सवाल उठे। खासतौर पर यह कहा गया कि अगर किसी भ्रामक विज्ञापन का व्यापक नकारात्मक असर पड़ रहा है तो उसे जारी करने वाले से लेकर उसके बारे में सभी सूचनाएं जानने का लोगों को हक है। मगर अब तक यह सब गूगल ऐड के जरिए फैलने वाले विज्ञापनों के बारे में पता लगा पाना मुश्किल था।

इसलिए सवालों के कठघरे में खुद गूगल भी थी। हाल के दिनों में वाट्सऐप और सोशल मीडिया के मंचों से फर्जी खबरों को प्रसारित करने से लेकर चुनावों और लोकतांत्रिक प्रक्रिया को प्रभावित करने और फेसबुक-कैंब्रिज एनालिटिका से जुड़ी आशंकाएं चर्चा का मुद्दा रही हैं। दरअसल इंटरनेट पर चुनावी विज्ञापनों में अगर जारी करने वाले का उल्लेख न हो तो कई बार यह पता लगाना मुश्किल रहता है कि इसके पीछे कौन है। जबकि वह विज्ञापन लोगों को सीधे प्रभावित करने या उनकी राय पर असर डालने में सक्षम होता है। इसलिए सोशल मीडिया पर ऐसे विज्ञापनों में पारदर्शिता बरतने को लेकर गूगल अपनी ओर से पहल कर रही है तो यह एक स्वागतयोग्य कदम है। हालांकि इसे बहुत पहले होना चाहिए था। गौरतलब है कि इससे पहले फेसबुक और ट्विटर ने भी इस तरह के बदलाव करने की घोषणा की है। लेकिन देखना यह है कि इस तरह की घोषणाएं जमीनी स्तर पर कितना पारदर्शी और स्वस्थ लोकतंत्र सुनिश्चित कर पाती हैं।

कल्पमेधा

जिंदगी कितनी भी मुश्किल क्यों न लगे, आपके पास कुछ न कुछ करने और कामयाब होने की गुंजाइश हमेशा रहती है।
-स्टीफन हॉकिंग

हिंदी बनाम अंग्रेजी

ज्योति सिडाना

टेक्नोलॉजी यानी एंड्रायड फोन और कंप्यूटर में तो हिंदी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को स्थान मिलने लगा है, क्योंकि ऐसा करने से उनका बाजार विस्तृत हुआ है। लेकिन शिक्षा व्यवस्था या प्रतियोगी परीक्षा में इनकी उपेक्षा हमारे समक्ष अनेक सवाल खड़े करती है। दूसरी सभी भाषाओं की तरह अंग्रेजी भी एक संपर्क भाषा है तो अन्य भाषाओं के साथ इसकी तुलना या उनके बीच श्रेष्ठता व हीनता के सवाल खड़े करना कहां तक उचित है!

ब्रितानी शासन के दौरान लार्ड मैकाले ने 1835 में जारी भारतीय शिक्षा के घोषणापत्र के माध्यम से यह स्थापित करने का प्रयास किया था कि पश्चिमी शिक्षण पद्धति भारतीय शिक्षण पद्धति से श्रेष्ठ है। इसलिए उन्होंने इसे भारत में लागू करने का प्रस्ताव रखा। इस घोषणापत्र ने न केवल अंग्रेजी को उच्च शिक्षा के माध्यम के रूप में लागू किया, बल्कि अंग्रेजी भाषी अभिजन और हिंदी माध्यम टाइप लोगों के बीच विभाजन भी कर दिया, परिणामस्वरूप उनमें क्रमशः श्रेष्ठता और हीनता की भावना घर कर गई। तब से यह सिलसिला अनवरत जारी है।

हाल ही में एक सर्वे के अनुसार सिविल सेवा परीक्षा में पिछले कुछ सालों से हिंदी माध्यम के विद्यार्थियों की संख्या में तेजी से गिरावट आई है, जबकि अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों के प्रतिशत में वृद्धि देखी जा सकती है। 2013 में हिंदी माध्यम से सिविल सेवा परीक्षा पास करने वाले 17 प्रतिशत थे, जबकि 2014 में यह संख्या 2.11 प्रतिशत, 2015 में 4.28 प्रतिशत, 2016 में 3.45 प्रतिशत और 2017 में 4.06 प्रतिशत रही थी। पिछले साल यानी 2018 में चयनित उम्मीदवारों की संख्या मात्र 2.16 प्रतिशत है। ये आंकड़े हिंदी और क्षेत्रीय भाषाओं को हाशिए पर धकेलते नजर आते हैं। इस पर व्यापक चिंतन की आवश्यकता है और यह चिंतन अनेक कारणों की तरफ इशारा करता है। पहला, कहीं यह हिंदी भाषा या क्षेत्रीय भाषा के प्रति पूर्वाग्रह का तो परिणाम नहीं है, और अगर ऐसा है तो यह क्षेत्रवाद और भाषावाद की समस्याओं के उभार का संकेत है, जो काफी खतरनाक है। दूसरा, हिंदी क्षेत्र की शिक्षा प्रणाली ऐसी हो गई है कि विद्यार्थी परीक्षा में पास नहीं हो पा रहे हैं।

ऐसा देखा जाता है कि अंग्रेजी माध्यम के बच्चे बहुत स्पष्टवादी होते हैं, वे परीक्षा में अंक पर अधिक ध्यान देते हैं, उन्हें उच्च शिक्षा में और बाहरी दुनिया में तुलनात्मक रूप से प्रदर्शन का अधिक व ज्यादा बेहतर मौका मिलता है। आंकड़ों से यह भी स्पष्ट होता है कि 2016 में 377 में से 280, 2017 में 369 में से 287 और 2018 में 370 में से 280 विद्यार्थी विज्ञान विषय (इंजीनियरिंग, टेक्नोलॉजी, मेडिसिन, फार्मेसी और शुद्ध विज्ञान से थे) से थे। समाज विज्ञान या मानविकी से 55 और बाकी 35 प्रबंधन व वाणिज्य विषय से थे। तीसरा, जैसा कि इन आंकड़ों के विश्लेषण से पता चलता है कि सिविल सेवा परीक्षा में विज्ञान और टेक्नोलॉजी के विद्यार्थी ज्यादा आ रहे हैं और क्योंकि इन विषयों का माध्यम अंग्रेजी होता है, संभवतः इसलिए प्रतियोगी परीक्षा में भी अंग्रेजी माध्यम के विद्यार्थियों की संख्या बढ़ी है। लेकिन समाज विज्ञान और साहित्य जैसे विषय हाशिए पर जा रहे हैं अथवा जानबूझ कर उन्हें हाशिए पर धकेला जा रहा है, क्योंकि समाज विज्ञान के विद्यार्थी के दिमाग में कहीं न कहीं विचार और आलोचना का पक्ष जिंदा रहता है, जबकि विज्ञान-तकनीकी के विद्यार्थी ऐसा नहीं कर पाते, वे समाज और व्यवस्था को भी उस रूप में नहीं समझते जो कि समाज विज्ञान का विद्यार्थी समझ सकता है। समाज या व्यवस्था के साथ उनका न कोई जुड़ाव होता है और न वे कोई विरोध करते हैं और राज्य को भी ऐसे ही नौकरशाह चाहिए जो व्यवस्था का विरोध न करें, बल्कि उसके हर फैसले में उसके साथ खड़े रहें। संभवतः यह भी एक कारण हो सकता है समाज विज्ञान और मानविकी के विषयों को हाशिए पर रखने का। चौथा, प्रतियोगी परीक्षा की उत्तर पुस्तिकाओं का मूल्यांकन करने वाले शिक्षकों में तो भाषा के माध्यम के प्रति पूर्वाग्रह नहीं है कि वे अंग्रेजी माध्यम की कॉपी को ज्यादा अच्छा या उच्च स्तरीय मानते हों और उन्हें अधिक अंक देते हों, जबकि हिंदी / क्षेत्रीय भाषा को कम आंकते हों। यहां एक सवाल मन में उठता है कि जो हिंदी भाषी या क्षेत्रीय भाषी नहीं हैं तो वे किस तरह नौकरशाह बन कर वहां की समस्याओं को समझ पाएंगे, क्योंकि नौकरशाह तो जनता और प्रशासन / राज्य के बीच मध्यस्थ की भूमिका का निर्वाह करता है। भारत जैसे बहु-भाषी राष्ट्र में जहां अधिकांश नागरिक हिंदी या क्षेत्रीय भाषा को अपनी संचार भाषा के रूप में प्रयुक्त करते हैं, वहां बिना इन भाषाओं को समझे समस्याओं का समाधान करना या विकास कार्य करना कैसे संभव है?

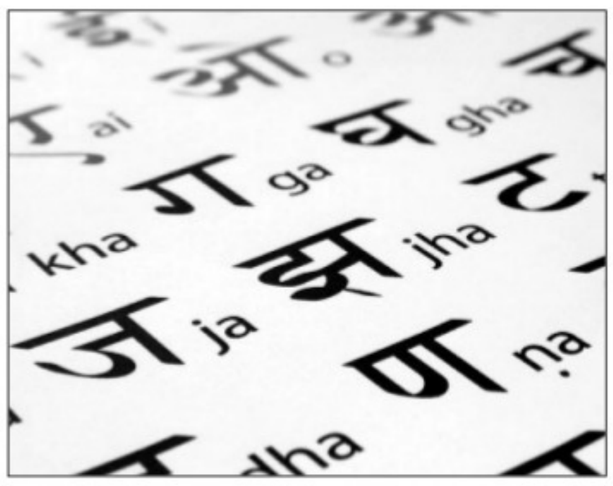

पांचवां, अंग्रेजी भाषा के अधिकांश राष्ट्रीय समाचार पत्र तो लोगों तक पहुच रहे हैं, लेकिन हिंदी भाषा के राष्ट्रीय समाचार पत्र कितना पहुंच रहे हैं और वे लोगों की समझ और सामान्य ज्ञान को विकसित करने में कितनी भूमिका निभा रहे हैं, यह भी एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। समाचार पत्र सभी प्रतियोगी परीक्षाओं का एक महत्त्वपूर्ण उपकरण हैं, लेकिन इन प्रतियोगिताओं में भाग लेने वाले विद्यार्थी अधिकांशतः अंग्रेजी समाचार पत्र पढ़ते हैं या पढ़ने के लिए बाध्य होते हैं। हिंदी के पत्रों में राष्ट्रीय और अंतराष्ट्रीय मुद्दे तुलनात्मक रूप से कम शामिल होते हैं, उनमें सूचनाएं तो मिल जाती हैं पर विश्लेषणात्मक एवं उच्च स्तरीय लेखों का अभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसी तरह अधिकांश उच्च स्तरीय प्रतियोगी पत्रिकाएं भी अंग्रेजी में ही उपलब्ध होती हैं। वे हिंदी के खबर चैनल नहीं देखते, बल्कि अंग्रेजी के देखते हैं क्योंकि उनका मानना है कि वहां विस्तृत विश्लेषण होता है, तार्किक बहस होती है और बकवास कम दिखाई जाती है। इन सब पक्षों के आधार पर कहा जा सकता है कि शिक्षा व्यवस्था में और प्रतियोगी परीक्षा में भाषा की भूमिका और भाषा के परिणाम महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

उस समय मैकाले ने अंग्रेजी भाषा के पक्ष में तर्क देते हुए कहा था कि इसका मकसद भारतीयों की ऐसी पीढ़ी तैयार करना है जो खून और रंग से भारतीय हो, लेकिन पसंद, आचार-विचार, बुद्धिमत्ता और राय से अंग्रेज हो। तो क्या आज स्वतंत्र भारत में भी हम ऐसी ही पीढ़ी तैयार करने के इच्छुक हैं जो बंधुआ-मस्तिष्क रखती हो, जिसे सिर्फ फैसलों और आदेशों का पालन करना और करवाना है। सवाल है कि यह कैसे तय होता है कि हिंदी या क्षेत्रीय भाषा का विद्यार्थी ज्ञानी, योग्य या कुशल नहीं हो सकता? क्या समाज विज्ञान और मानविकी विषयों की उपेक्षा समाज, संस्कृति, राजनीति, अर्थव्यवस्था के विभिन्न पक्षों की भी उपेक्षा को नहीं दर्शाती? टेक्नोलॉजी यानी एंड्रायड फोन और कंप्यूटर में तो हिंदी एवं अन्य क्षेत्रीय भाषाओं को स्थान मिलने लगा है, क्योंकि ऐसा करने से उनका बाजार विस्तृत हुआ है। लेकिन शिक्षा व्यवस्था या प्रतियोगी परीक्षा में इनकी उपेक्षा हमारे समक्ष अनेक सवाल खड़े करती है। दूसरी सभी भाषाओं की तरह अंग्रेजी भाषा भी एक संपर्क भाषा है तो अन्य भाषाओं के साथ इसकी तुलना या उनके बीच श्रेष्ठता व हीनता के सवाल खड़े करना कहां तक उचित है।

किसी भी भाषा का व्यक्ति समान रूप से ज्ञान, कुशलता, दक्षता और अच्छे व्यक्तित्व का धनी हो सकता है, इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। अंग्रेजी या पश्चिमी भाषाओं का भी ज्ञान होना जरूरी है, ताकि हम वैश्विक ज्ञान प्राप्त कर सकें और उसका अपने जीवन में उपयोग कर सकें। पर भाषा के नाम पर लोगों को बांटना या उनमें श्रेष्ठता-निम्नता पैदा करना केवल भाषावाद या क्षेत्रवाद को ही बढ़ावा देगा। भाषा चेतना का प्रतीक होती है, इसलिए जितनी भाषाए सीखेंगे, उतना ही ज्यादा चेतना का विस्तार होगा। इसलिए विद्यार्थियों को बहुभाषायी ज्ञान होना चाहिए। लेकिन भाषा को राष्ट्रवाद का पर्याय नहीं बनाया जा सकता, अन्यथा यह सामाजिक विभाजन उत्पन्न करेगी।

साइकिल की सवारी

हेमंत कुमार पारीक

दुनिया मेरे आगे

बचपन के दिन थे। गांव में मनोरंजन के सस्ते साधन थे। बिना पैसे वाले खेल थे या फिर मनोरंजन के लिए बहुत से खेल दिखाने वाले चले आते थे। अभी तक जो याद है उनमें बहुरूपिया, नटों का खेल, बाजीगर और साइकिल पर करतब दिखाते फिरते कलाकार थे। बहुरूपिया कभी पुलिस बन कर आ जाता तो कभी वही साधु और डाकू भी बन जाता। कभी बाजीगरों का खेल होता। रोजी-रोटी कमाने के लिए बाजीगर सड़क पर मजमा लगा लेते। वे कभी खाली टोकरी से कबूतर निकालते तो कभी मुंह से लोहे के गोले। कभी नट रस्सी पर साइकिल के पहिए पर चलते, कभी सांप-नेवले के खेल में टुकड़े-टुकड़े सांप को जोड़ देता। हम छोटे थे इसलिए समझ नहीं आता था। पर लोग उसे हाथ की सफाई पर 'इंद्रजाल' का नाम देते थे।

इन सब में जो लंबे समय तक चलता था, वह खेल था साइकिल चलाने का! साइकिल पर सवार व्यक्ति घोषणा करता था कि वह अड़तालीस या बहत्तर घंटे लगातार साइकिल चला सकता है। उसका दावा होता था कि तय समय के पहले साइकिल से नीचे नहीं उतरेगा। हम स्कूल जाते समय देखते और लौट कर भी। एक ही पोशाक में वह अपनी शर्त पूरी करता था। उस समय एक सवाल जरूर उठता था कि बिना खाए-पिए, बिना आराम किए कोई शख्स लगातार बहत्तर घंटे या इससे अधिक समय तक साइकिल कैसे चला सकता है! रात्रि विश्राम जरूर करता होगा। पर इसका जबाव कभी नहीं मिला।

साइकिल के संबंध में एचजी वेल्स ने कहा है- 'मैं हर समय एक नवयुवक को साइकिल पर देखता हूं। इसलिए मानव जाति के भविष्य को लेकर ज्यादा निराश नहीं हूं।' काफी पहले मेरे घर में भी एक 'हीरो' साइकिल थी। दूर के एक रिश्तेदार, जिन्हें सब काका जी कहते थे, वे अपने काम दिन भर साइकिल पर ही पूरे करते थे। उस समय कस्बे में न तो किसी के पास कार थी और न स्कूटर। कोई कार दिख जाती थी तो लोग आश्चर्य से देखते थे। लोग या तो पैदल आते-जाते थे या फिर साइकिल से। देहात से आने वाले ग्रामीण उस कस्बे में दूध, घी, मठा, लकड़ी आदि बेचने के लिए पैदल चल कर आते थे। वह कस्बा था। अब धीरे-धीरे शहर का रूप धारण करने लगा है। पर अब गिनी-चुनी साइकिलें ही दिखती हैं। बाकी तो धुंआ फेंकती बाइक, कार और ट्रक आदि नजर आते हैं। रेलवे फाटक बंद होने पर पांच मिनट में ही वाहनों की लाइन लग जाती है।

नीदरलैंड दुनिया में साइकिल की राजधानी है। सुन कर खुशी होती है कि वहां के प्राथमिक स्कूल के बच्चे आवागमन के लिए साइकिल को ही चुनते हैं। एम्सटरडम में जनसंख्या के हिसाब से मोटरसाइकिलें अधिक हैं, पर साइकिल चलाने वालों के लिए अलग से रास्ते बने हुए हैं। साइकिल वहां बराबरी और स्वतंत्रता का प्रतीक है। कुछ समय पहले नीदरलैंड के प्रधानमंत्री ने हमारे देश के प्रधानमंत्री को वहीं की बनी एक साइकिल भेंट की थी।

हमारे देश में कुछ राज्यों की राजधानी में साइकिल के लिए विशिष्ट स्थानों पर अलग से 'पाथ-वे' यानी लेन बनाए गए हैं। यह एक सराहनीय कदम है। लोगों में साइकिल के प्रति जागरूकता पैदा करने की एक पहल है। कहीं-कहीं प्राथमिक स्कूलों के बच्चों को साइकिल बांटी भी गई है। मेरे खयाल से इसे 'ग्रीन जर्नी' के अभियान से जोड़ देना चाहिए। हालांकि जब कभी अपने गांव के पुराने घर में जाता हूं तो कबाड़ में पड़ी उस 'हीरो' साइकिल को जरूर देखता हूं जो अब किसी लायक नहीं रह गई है। सिर्फ बाबा की याद भर है। उसके मडगार्ड पर अभी भी 'हीरो' साइकिल का मोनो दिखता है, जो सड़-गल गया है। इसके बावजूद आज भी वह साइकिल अपने दौर के सफर की याद दिलाती है। तब से अब तक न जाने कितने लोगों ने उसकी सवारी की होगी। वे ज्यादातर लोग अब साइकिल से आगे बढ़ कर कारों तक से सफर कर रहे हैं, लेकिन पता नहीं, साइकिल की अहमियत कितने लोगों के जेहन में होगी। आजकल कई लोग चुस्ती-फुर्ती आनंद और वातावरण के प्रदूषण को ध्यान में रख कर साइकिल से यात्रा करते हैं। ठीक है, पर साइकिल चलाने से और भी फायदे हैं। साइकिल चलाना सबसे अच्छा व्यायाम है। यह दिल के लिए भी फायदेमंद है। प्रतिदिन साइकिल से यात्रा करने से दिल संबंधी बीमारियों से बचा जा सकता है। साइकिल चलाने से एडेज्लाइन और एनडोफिंस नामक तत्त्व पैदा होते हैं जो किसी व्यक्ति के मन को प्रसन्न रखने और क्रियाशीलता बनाए रखने में सहायक होते हैं।

आज पूरी दुनिया प्रदूषण तथा मौसम परिवर्तन जैसे खतरों से जूझ रही है। ऐसे समय में केवल साइकिल ही इस समस्या से दुनिया को निजात दिला सकती है। अलबर्ट आइंटीन ने कहा था- 'जीवन साइकिल की सवारी करने जैसा है, संतुलित और सदैव चलायमान।' सुन कर आश्चर्य हुआ कि हम सभी के वे काकाजी जो हमेशा साइकिल साथ रखते थे, एक सौ छह वर्ष तक जिंदा रहे।

ईवीएम के बहाने

एक अमेरिकी कथित साइबर विशेषज्ञ ने दावा किया है कि इलेक्ट्रॉनिक वोटिंग मशीन (ईवीएम) को 'हैक' किया जा सकता है। उसके मुताबिक 2014 के आम चुनावों में भी ईवीएम को हैक किया गया था। इस व्यक्ति के दावे के बाद देश की कुछ विपक्षी पार्टियों ने ईवीएम को लेकर हो-हल्ला मचाना शुरू कर दिया है। विडंबना देखिए कि इन दलों के नेता इतने शिक्षित होने के बावजूद एक व्यक्ति की अपुष्ट बातों में फंस रहे हैं जबकि देश की संवैधानिक संस्था चुनाव आयोग पर इन्हें विश्वास नहीं हो रहा है।

भारतीय चुनाव आयोग ने साफ तौर पर कह दिया है कि ईवीएम से छेड़छाड़ संभव नहीं है। आयोग इसकी सत्यता और 'फूल प्रूफ' होने के दावे पर मजबूती से खड़ा है। आयोग ने दो साल पहले इसकी विश्वसनीयता पर उठे सवालों के जवाब में कहा था कि जिन पार्टियों को ईवीएम पर भरोसा नहीं है वे इसे हैक करके दिखाएं। लेकिन किसी भी पार्टी ने इस चुनौती को स्वीकार नहीं किया। इसके पहले कई पूर्व चुनाव आयुक्तों द्वारा स्पष्ट किया जा चुका है कि ईवीएम में किसी भी प्रकार से गड़बड़ी नहीं की जा सकती है।

इसी संदेह की वजह से ईवीएम को और अधिक आधुनिक बनाया गया जिसमें 'वोटर वेरीफाइड पेपर ट्रेल मशीन' का प्रयोग किया जाता है। इसमें मतदाता अपने द्वारा चिह्नित चुनाव निशान को वोटर वेरीफाइड पेपर ट्रेल मशीन पर देख सकता है। इतना कुछ स्पष्ट होने के बावजूद इसे संदेह की दृष्टि से देखा जा रहा है। चुनाव आयोग अपने कार्य में इतना दक्ष है कि वह विभिन्न देशों के व्यक्तियों को चुनाव प्रक्रिया के बारे में प्रशिक्षण देता है। उदाहरण के तौर पर नेपाल, भूटान और अफगानिस्तान आदि का नाम लिया जा सकता है। अफगानिस्तान में तो 2004 में उसने चुनाव भी करवाए थे। जिन देशों में चुनाव संपन्न हुए हैं उनमें ईवीएम का ही प्रयोग हुआ है।

सवाल है कि यदि हमारा चुनाव आयोग इतना गलत होता तो क्या विभिन्न देश उससे चुनाव कार्य संपन्न करवाते? वास्तव में असल मुद्दा ईवीएम, नहीं चुनाव है। आम चुनाव को करीब देख कर कुछ पार्टियां देश के मतदाताओं को भ्रमित करके सहानुभूति लेना चाह रही हैं ताकि कुछ प्रतिशत मतदाताओं को अपने पक्ष में किया जा सके।

● *दुर्गेश शर्मा, गोरखपुर, उत्तर प्रदेश*

किसी भी मुद्दे या लेख पर अपनी राय हमें भेजें। हमारा पता है : ए-8, सेक्टर-7, नोएडा 201301, जिला : गौतमबुद्धनगर, उत्तर प्रदेश

आप चाहें तो अपनी बात ईमेल के जरिए भी हम तक पहुंचा सकते हैं। आइडी है : chaupal.jansatta@expressindia.com

खतरे की घंटी

आज हम जैसे-जैसे विकसित होते जा रहे हैं प्राकृतिक संसाधनों का उतना ही दुरुपयोग कर रहे हैं। इसी का नतीजा है जलवायु परिवर्तन, बेमौसम बरसात, सूखा, तापमान में बढ़ोतरी आदि। यह आने वाले समय के लिए खतरे की घंटी है। रासायनिक उर्वरकों का इस्तेमाल कर ज्यादा से ज्यादा मुनाफे के लोभ ने ऐसी अनेक बीमारियों को जन्म दिया है, जिनका इलाज ही मुश्किल है। आज मनुष्य अगर समय रहते पर्यावरण की कद्र नहीं करता है तो उसका नतीजा भावी पीढ़ियों को जरूर भुगतना पड़ेगा। इसके मद्देनजर प्रकृति से खिलवाड़ के बजाय उसके साथ सामंजस्यपूर्ण जीवन शैली अपनाने की जरूरत है।

● *श्रीनिवास बिश्नोई, दिल्ली*

विषमता का विकास

हाल ही में आई आक्सफैम की रिपोर्ट बताती है कि देश में असमानता का स्तर बहुत अधिक है। इस रिपोर्ट के अनुसार देश के शीर्ष नौ अमीर लोगों की संपत्ति पूरे देश की संपत्ति का आधा अर्थात पचास फीसद है, जबकि 99 प्रतिशत जनसंख्या शेष आधे भाग की मालिक है। देश के वर्तमान हालात की यह तस्वीर चिंताजनक है। उदारीकरण के बाद से विश्वास दिलाया जाता रहा है कि इससे देश में असमानता के स्तर में कमी आएगी लेकिन अमीरों और गरीबों के बीच की खाई बढ़ती ही जा रही है। यह रिपोर्ट दर्शाती है कि देश तेजी से पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की ओर अग्रसर है, जिसका अंतिम उद्देश्य केवल लाभ प्राप्त करना है। यदि विकास का यही क्रम रहा तो समावेशी विकास का सपना असंभव-सा हो जाएगा।

भारत में आर्थिक सुधार लगभग रोजगारविहीन संवृद्धि के साथ हो रहा है, जो देश के बेहतर भविष्य के लिए कतई उचित नहीं है। लिहाजा, सरकार को मजबूत और प्रभावी कदम उठाने होंगे, जिनसे सबका साथ-सबका विकास धरातल पर चरितार्थ हो सके।

● *आशीष गुप्ता, ईशरापुर, हरदोई, उत्तर प्रदेश*

लूट की शिक्षा

इन दिनों शिक्षा में निजीकरण का प्रभाव तेजी से बढ़ रहा है। जहां आएदिन निजी शिक्षण संस्थान खुलते जा रहे हैं वहीं सरकारी विश्वविद्यालय और महाविद्यालय भी 'सेल्फ फाइनेंस' के नाम पर नए कोर्स शुरू करते जा रहे हैं। नतीजतन, धीरे-धीरे सरकारी व गैर सरकारी सभी प्रकार के संस्थानों की फीस में तेजी से वृद्धि देखने को मिल रही है। विशेषकर निजी संस्थान तो फीस के मामले में बिल्कुल बेलगाम हो गए हैं। वे सत्र-दर-सत्र फीस में भारी वृद्धि करते रहते हैं। उसके बाद भी बच्चों से अलग-अलग फंड के नाम पर परीक्षा शुल्क, प्रेक्टिकल फीस, नामांकन शुल्क, धरोहर राशि आदि के नाम पर अलग-अलग तरीके से वसूली करते हैं। इसके कारण देश का एक बहुत बड़ा तबका धीरे-धीरे उच्च शिक्षा से दूर होता दिख रहा है। सरकार ने यदि समय रहते प्राइवेट कॉलेजों और 'सेल्फ फाइनेंसिंग' के रूप में चलाए जा रहे पाठ्यक्रमों की फीस पर अंकुश लगाने के लिए कायदे-कानून नहीं बनाए तो वह दिन दूर नहीं जब देश का गरीब व सामान्य वर्ग बेहतर शिक्षा के लिए दर-दर भटकता दिखाई देगा।

साथ ही आवश्यकता है कि अभिभावकों व बच्चों को संस्थानों द्वारा वसूली जा रही फीस में होती वृद्धि को लेकर बनाए गए कानून व उनके अधिकारों के बारे में जागरूक किया जाए। अक्सर बच्चे व अभिभावक अपने अधिकारों की जानकारी के अभाव में कोई कार्रवाई नहीं कर पाते। किसी संस्थान में यदि कोई बच्चा शुल्क वृद्धि के खिलाफ आवाज उठा भी देता है तो भविष्य बर्बाद कर देने का डर दिखा कर उसकी आवाज को दबा दिया जाता है। यदि सरकार ने तुरंत शिक्षा के निजीकरण पर अंकुश लगाने के लिए सख्त नियम-कानून नहीं बनाए तो शिक्षित भारत का सपना खतरे में पड़ सकता है।

● *शक्ति प्रताप सिंह, आशियाना, लखनऊ*